वर्ष-69 अंक-07 ❖ जुलाई 2026 (कुल पृष्ठ-20) प्रति अंक : मूल्य ₹ 10/-

भारतीय भाषाओं की
समन्वय-संस्कृति का उद्‌गाता

मंगल प्रभात

सच्ची विद्या

मनुष्य मुर्ख है, अज्ञानी है, कुवासनाओं से घिरा हुआ है। परिस्थिति से जकड़ा हुआ है। उसकी आत्मा दब गई है। विकास के खातिर उसे गुंजाइश नहीं मिलती। इन सब बंधनों से उसे जो मुक्त करती है वही सच्ची तालीम है—शरीर को रोग और दुर्बलता से मुक्त करे; बुद्धि को अज्ञान और गलत ख्यालों से मुक्त करे; हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियों को जड़ता से मुक्त करे; मन को लालच, भय और क्षुद्र स्वार्थ जैसी कुवासनाओं से मुक्त करे; हृदय को कठोरता से और गलत भावों से मुक्त करे। पूरे मनुष्य को—मनुष्य समाज को प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजकीय, बौद्धिक वगैरा सब दास्यों से मुक्त करे; रस-वृत्ति को विलास में से मुक्त करे, शक्ति को मद से मुक्त करे, आत्मा को कृपणता या अहंकार के पंजे में से मुक्त करे वही विद्या, वही तालीम है।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

यह हकीकत है। उसमें से जो मुक्ति दे, वही विद्या है।

मार्च, 1954

—काका कालेलकर

गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा

1, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, सन्निधि, राजघाट, नई दिल्ली-110002

5-6 जुलाई, 2026 Postal R.No.DL(C)-01/1242/2024-26
मंगल प्रभात मासिक RNI-813/57

इस अंक में

1.	भारतीय साहित्य का प्रचार	–गांधीजी	03
2.	सर्वोदय की तैयारी	–काका कालेलकर	05
3.	हिन्दी-हिन्दुस्तानी विवाद	–डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर'	07
4.	नागरिक का धर्म	–यशपाल जैन	13
5.	मीराँ के गुजराती पद	–अम्बाशंकर नागर	15
6.	श्रद्धांजलि	–रमेश भारद्वाज *कवर पृष्ठ*	20

ई-मेल अथवा व्हाट्सएप द्वारा 'मंगल प्रभात' मंगवाने के लिए सम्पर्क करें–
ई-मेल : ghss.sannidhi@gmail.com • व्हाट्सएप नं. : 9911891104

मंगल प्रभात के प्रत्येक अंक का **e-paper** गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा की वेबसाईट **www.ghsssannidhi.org** पर उपलब्ध है।

'मंगल प्रभात' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं। उनके साथ मंगल प्रभात के सम्पादक का या संस्था का सहमत होना जरूरी नहीं है।

सम्पादक	:	**प्रो. रमेश भारद्वाज**			
सम्पादकीय सलाहकार	:	**कृष्णा शर्मा एवं सावित्री भारद्वाज**			
वार्षिक चन्दा	:	₹ 100/-	**पंचवर्षीय**	:	₹ 500/-
एक प्रति	:	₹ 10/-	**दस वर्षों के लिए**	:	₹ 1000/-

अखिल भारतीय साहित्य परिषद, नागपुर परिषद् की पहली बैठक के सभापति-पद से गांधीजी के लिखित भाषण का अंश

भारतीय साहित्य का प्रचार

✍ **गांधीजी**

विद्वान् लोग एक दूसरे के साहित्य का कुछ ज्ञान प्राप्त करें, इसी से हमें कोई सन्तोष नहीं हो सकता। हमें तो देहाती साहित्य की भी दरकार है, और देहातियों में आधुनिक साहित्य के प्रचार की भी। शरम की बात है कि आज चैतन्य की प्रसादी भारतवर्ष के सभी भाषा-भाषियों को अप्राप्य है। तिरूवेल्लुवर का नाम तक शायद हम सब नहीं जानते होंगे। उत्तर भारत की जनता तो उस सन्त का नाम जानती ही नहीं। उसने थोड़े शब्दों में जैसा ज्ञान दिया है, वैसा बहुत कम सन्त लोग दे सके हैं। इस बारे में इस वक्त तो तुकाराम का ही दूसरा नाम मेरे ख्याल में आता है।

अगर हम सारे हिन्दुस्तान के साहित्य के विशाल क्षेत्र में प्रवेश करें, तो क्या उसकी कुछ सीमा-मर्यादा होनी चाहिये? मेरी राय में अवश्य होनी चाहिये। मुझे पुस्तकों की संख्या बढ़ाने का मोह कभी नहीं रहा। मैं इसे आवश्यक नहीं मानता कि प्रत्येक प्रान्त की भाषा में लिखी और छपी प्रत्येक पुस्तक का परिचय दूसरी सब भाषाओं में कराया जाय। ऐसा प्रयत्न सम्भव भी हो, तो उसे मैं हानिकर ही समझता हूँ। जो साहित्य ऐक्य का, नीति का, शौर्यादि गुणों का और विज्ञान का पोषक है उसका प्रचार प्रत्येक प्रान्त में होना आवश्यक और लाभदायक है।

आजकल श्रृंगारयुक्त अश्लील साहित्य की बाढ़ सब प्रान्तों में आ रही है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि एक शृंगार को छोड़कर और कोई रस है ही नहीं। शृंगार-रस को बढ़ाने के कारण ऐसे सज्जन दूसरों को 'त्यागी' कहकर उनकी उपेक्षा और उपहास करते हैं। जो सब चीजों का त्याग कर बैठते हैं, वे भी रस का त्याग तो नहीं कर पाते। किसी न किसी प्रकार के उससे हम सब भरे हैं। दादाभाई ने देश के लिये सब कुछ छोड़ा था, फिर भी वे बड़े रसिक थे। देश-सेवा को ही उन्होंने अपना रस बना रखा था। उसी में उन्हें प्रसन्नता मिलती थी। चैतन्य को रसहीन कहना रस ही को न जानना है। नरसिंह मेहता ने अपने को भोगी बताया है, यद्यपि वे गुजरात के भक्त शिरोमणि थे। अगर आपको मेरी बात न अखरे, तो मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि मैं श्रृंगार रसको तुच्छ रस समझता हूँ, और जब उसमें अश्लीलता आती है, तब उसे सर्वथा त्याज्य मानता हूँ। यदि मेरी चले तो मैं इस संस्था में ऐसे रस को त्याज्य मनवा दूँ। इसी तरह जो साहित्य कौमी भेदों को, धर्मान्धता को तथा प्रजा में अथवा व्यक्तियों में वैमनस्य को बढ़ाता है, उसका भी त्याग होना आवश्यक है।

यह कार्य कैसे किया जाय? मुंशी जी और काका साहब ने हमारा मार्ग एक हद तक साफ कर रखा है। व्यापक साहित्य का प्रचार व्यापक भाषा में ही हो सकता है। ऐसी भाषा अन्य भाषा की अपेक्षा हिन्दी-हिन्दुस्तानी ही है। हिन्दी को हिन्दुस्तानी कहने का मतलब यह है कि उस भाषा में फारसी मुहावरों का त्याग न किया जाये।

अंग्रेजी भाषा कभी सब प्रान्तों के लिये वाहन या माध्यम नहीं हो सकती, यदि सचमुच ही हम हिन्दुस्तान के साहित्य की वृद्धि चाहते हैं। और भिन्न-भिन्न भाषाओं में जो रत्न छिपे पड़े हैं, उनका प्रचार भारतवर्ष के करोड़ों मनुष्यों में करना चाहते हैं, तो यह सब हम हिन्दुस्तानी की मारफत ही कर

सकते हैं।

इस परिषद् का उद्देश्य यह है कि सब प्रान्तीय साहित्यों की सारभूत बातें संग्रह करके हिन्दी में उन्हें उपलब्ध किया जाय। इसके लिये मैं आपसे एक प्रार्थना करूँगा। निस्सन्देह हरएक आदमी को अपनी मातृभाषा अच्छी तरह जाननी चाहिये, और इसके साथ ही हिन्दी के द्वारा अन्य भाषाओं के महान् साहित्य का भी उसे ज्ञान होना चाहिये। लेकिन साथ ही, परिषद् का यह भी उद्देश्य है कि वह हम लोगों में अन्य प्रान्तों की भाषायें जानने की इच्छा को प्रोत्साहन दे। जैसे, गुजराती लोग तामिल जानें, बंगाली गुजराती जानें, और दूसरे प्रान्तों के लोग भी ऐसा ही करें। मैं तजरब के साथ आपसे कहता हूँ कि दूसरी देशी भाषा सीख लेना कोई मुश्किल बात नहीं है। लेकिन इसके साथ एक सर्वमान्य लिपि का होना आवश्यक है। तामिलनाड में ऐसा करना कुछ मुश्किल नहीं है। क्योंकि इस सीधी-सादी बात पर ध्यान दीजिये कि 90 फीसदी से भी ज्यादा हमारे देशवासी अशिक्षित हैं। हमें नये सिरे से उनकी शिक्षा शुरू करनी होगी। तब सामान्य लिपि के द्वारा ही हम उन्हें शिक्षित बनाने की शुरुआत क्यों न करें? यूरोप में वहाँ वालों ने सामान्य लिपि का प्रयोग किया और वह बिल्कुल सफल रहा। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि हम भी यूरोप की रोमन लिपि को ही ग्रहण कर लें। लेकिन फिर वाद-विवाद के बाद यह विचार बन चुका है कि हमारी सामान्य लिपि देवनागरी ही हो सकती है, और कोई नहीं। उर्दू को उसका प्रतिस्पर्द्धा बताया जाता है, लेकिन मैं समझता हूँ कि उर्दू या रोमन किसी में भी वैसी संपूर्णता और ध्वन्यात्मक शक्ति नहीं है, जैसी देवनागरी में है। याद रखिये कि आपकी मातृभाषाओं के खिलाफ मैं कुछ नहीं कह रहा हूँ। तामिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़ तो जरूर रहनी चाहियें और रहेंगी, लेकिन इन प्रदेशों के अशिक्षितों को हम देवनागरी लिपि के द्वारा इन भाषाओं के साहित्य की शिक्षा क्यों न दें? हम जो राष्ट्रीय एकता हासिल करना चाहते हैं, उसकी खातिर देवनागरी को सामान्य लिपि स्वीकार करना आवश्यक है। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। बात सिर्फ यह है कि हम अपनी प्रान्तीयता और संकीर्णता छोड़ दें। तामिल और उर्दू लिपियाँ मुझे पसन्द न हों, सो बात नहीं है। मैं इन दोनों को जानता हूँ। लेकिन मातृभूमि की सेवा ने, जिसके लिये मैंने अपना सारा जीवन अर्पण कर दिया है, और जिसके बिना मेरा जीवन निरर्थक होगा, मुझे सिखाया है कि हमारे देश के लोगों पर जो अनावश्यक बोझ है, उससे उन्हें मुक्त करने की कोशिश हमें करनी चाहिए। तमाम लिपियों को जानने का बोझ अनावश्यक है, और उससे आसानी से बचा जा सकता है। इसलिये सभी प्रान्तों के साहित्यिकों से मैं प्रार्थना करूँगा कि वे इस सम्बन्ध के अपने भेद-भावों को भुलाकर इस अत्यन्त आवश्यक विषय पर एक मत हो जायँ। तभी भारतीय साहित्य परिषद् अपने उद्देश्य में सफल हो सकती है।

आज का हमारा साहित्य कुछ ही लोगों के काम का है, यानी जो लोग शिक्षित है, उन्हीं के मतलब का है। यहाँ तक कि शिक्षितों में भी ऐसे थोड़े ही होंगे, जिनकी साहित्य में दिलचस्पी हो। गाँवों में तो हम बिल्कुल गये ही नहीं। सेवाग्राम के लोगों में एक फीसदी भी ऐसे नहीं हैं, जो साहित्य पढ़ सकें। हमारी रात्रिशाला में नियमित रूप से अखबार सुनने के लिये भी आधे दर्जन से ज्यादा आदमी नहीं आते। इस अज्ञान को दूर करने का महान् कार्य हमें करना है। क्या मुट्ठी भर आदमियों के सहारे हम इसे कर सकेंगे? हमें तो आप सबके सहयोग की जरूरत है।

मैं साहित्य के लिये साहित्य का रसिक नहीं

शेष भाग पृष्ठ संख्या 06 पर

सर्वोदय की तैयारी

✍ **काका कालेलकर**

गांधीजी के उपवास से लोगों का चौंक उठना स्वाभाविक है, रो पड़ना आसान है; किन्तु दोनों में से एक भी बात गांधीजी को अथवा देश को मदद पहुँचाने वाली नहीं है। यह धर्म-संस्थापक उपवास क्यों शुरू किया गया है, उसकी गहराई में क्या-क्या है, और अब प्रत्येक हिन्दू का, प्रत्येक भारतवासी का और मानव-जाति के कल्याण की अभिलाषा रखने वाले प्रत्येक मानव का क्या कर्तव्य है– इन सब प्रश्नों का विचार करने के लिए हृदय की गहराई में उतरने की आज खास जरूरत है। गांधीजी के प्राण धर्म के लिए हैं। उन प्राणों का उपयोग करना, उन्हें निचोड़ डालना या उनका बलिदान कर देना– ये तीनों क्रियाएँ गांधीजी के लिए एक-सी हैं। कितने ही लोग साफ-साफ कह देते हैं कि 'सामान्य मनुष्य का अब धर्म में रस नहीं रह गया है।' धर्म के नाम पर ईसाइयों ने जो जुल्म किए हैं. धर्म के नाम पर हिन्दू-मुसलमान जिस तरह लड़े हैं, धर्म के नाम पर जहाँ-तहाँ जो दम्भ और पाखण्ड आज चलता है, उसे देख-सुन कर और उसके उदाहरण देकर लोग खुलेआम पूछते हैं–'ऐसे धर्म को टिकाए रखने का प्रयत्न कौन करे? धर्म की इस बला से तो समाज में सड़ांध पैठती है। समाज की हवा को शुद्ध करना हो, तो धर्म के पाखण्ड को दूर करना ही होगा। इसके बजाए गांधी धर्म को टिकाने के लिए सारे विश्व का मूल्य रखने वाले अपने प्राणों को क्यों खतरे में डाल रहे हैं?'

और हमारे नौजवान? रूस की क्रान्ति पर मोहित हुए ये नौजवान तो एक ही बात कहते हैं–धर्म को कुचल डालो, धर्म का जड़मूल से नाश कर डालो, तभी सामान्य जनता अपना सिर ऊँचा कर सकेगी। धर्म का अर्थ है गुलामी। धर्म का अर्थ है अज्ञान। धर्म का अर्थ है अन्धविश्वास, धूर्तों की पूँजी, जालिमों की ढाल, प्रगति के मार्ग में खड़ी की हुई दीवार और पीड़ित लोगों को जाग्रत न होने देने के लिए उन्हें खिलाई जाने वाली अफीम।' ऐसे-ऐसे वाक्यों से देश के नौजवान धर्म को सम्मानित करते हैं।

लेकिन ये लोग जानते नहीं कि जिस बात से नौजवानों को घृणा है उसी से गांधीजी को भी घृणा है। नौजवान कहते हैं–'डाउन विथ रिलीजन'; जब कि गांधीजी इसी बात को व्यवहार की भाषा में रखकर इस प्रकार कहते हैं, 'अस्पृश्यता को दफना दो। ऊँच-नीच की भावना को नष्ट कर दो। पाखण्ड को अपने पास खड़े होने की भी जगह न दो।' नौजवान जब 'डाउन विथ रिलीजन' कहते हैं तब यह आदेश वे हवा में छोड़ते हैं; वे देखते भी नहीं कि इस आदेश को पालने वाला कोई है या नहीं। गांधीजी कहते हैं, 'पाखण्ड का नाश करने की बात हम दूसरों से कहें इसके पहले हम स्वयं ही उसका नाश करें। हमारे भीतर जो पाखण्ड हो उसी को हम पहले दूर करें, क्योंकि वह हमारी गोली की पहुँच के भीतर होगा। उसके बाद आसपास के पाखण्ड का नाश करना भी हमारा ही काम होगा।'

केवल शब्दों के जाल में फँसकर नौजवान लोग यदि ऐसा मान लें कि गांधीजी और उनके बीच गहरा समुद्र फैला हुआ है, तो यह दुर्भाग्य की बात होगी। हम जिसे समाज-हित कहते हैं उसी को गांधीजी धर्म कहते हैं। हम जिसे चरित्र का तेज कहते हैं, उसी को गांधीजी आत्मबल कहते हैं।

फर्क इतना ही है कि हम लोग जिस बात की केवल चर्चा करते हैं उसे गांधीजी आचरण में उतार कर दिखा देते हैं और स्वयं आचरण में उतारने के बाद हमें भी उस पर आचरण करने का निमंत्रण देते हैं।

गांधीजी ने अपने जमाने के खिलाफ एक महान् संघर्ष छेड़ दिया है। आज का जमाना युक्ति-प्रयुक्ति से काम निकलवाना चाहता है। आज के दाँव-पेंच जानने वाले चतुर लोग दुनिया को हमेशा यह आशा दिलाते हैं कि हम कोई ऐसा उपाय खोज निकालेंगे, जिससे हमारा अपना स्वार्थ भी बढ़ती हुई मात्रा में सिद्ध होता जाए और जन-समाज का भी दिनों दिन अधिक भला होता जाए। इसीसे धीरे-धीरे समाज में बेहद सड़ाँध बढ़ती जाती है। निजी जीवन में क्या और सार्वजनिक जीवन में क्या, जीवन का आदर्श ही नीचे गिरता जाता है। ऐसी स्थिति में दम्भी लोग और उनके गुप्त पाप बढ़ें, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। गांधीजी इस स्थिति से लोहा लेकर वीरयुग की स्थापना का प्रयास कर रहे हैं। वे लोगों के मन पर यह बात जमाना चाहते हैं कि किसी-न-किसी को तो बलिदान देना ही पड़ेगा; इसके बिना लोग ऊँचे नहीं उठ सकेंगे, उनका चारित्र्य टिक नहीं सकेगा। आज भले ही गांधीजी ने हरिजनों के लिए उपवास आरम्भ किया हो परन्तु हरिजनों का प्रश्न तो उपवास का केवल एक मुख्य कारण है। सारी दुनिया के राजनीतिज्ञों ने धर्म पर जमी हुई मनुष्य जाति की श्रद्धा को तोड़ने का जो धन्धा शुरू किया है, उसके खिलाफ गांधीजी ने एक प्रचण्ड विद्रोह कर दिया है। यह विद्रोह किसी देश के या किसी राज्य के खिलाफ नहीं है, परन्तु मनुष्य जाति के हृदय में जो शैतान बैठा हुआ है और धर्म के नाम पर सर्वत्र अधर्म फैला रहा है, उसके खिलाफ है। भारत की या किसी भी देश की राजनीति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह शुद्ध हृदय-नीति है, समाज- नीति है, धर्म नीति है। इस बात को यदि हम समय रहते समझ लेंगे तो बहुत-सा कार्य आसानी से और तुरन्त कर सकेंगे।

यह बात हमें याद रखनी चाहिए कि गांधीजी के साथ रहकर प्रयत्न करेंगे, तो कम मेहनत से और बगैर परेशानी के हम संकट को पार कर लेंगे। लेकिन यदि आज हम गांधीजी का साथ नहीं देंगे, तो हमें हाथ मलने पड़ेंगे और अनेक पीढ़ियों तक बलिदान पर बलिदान देने के बाद ही हम किनारे पर पहुँच सकेंगे। भारतवर्ष में रहने वाले हर आदमी से गांधीजी यह कहते हैं कि वह शुद्धि के इस यज्ञ में अपना हिस्सा दे, जो जहाँ बैठा हो वहीं खड़ा होकर सफाई और शुद्धि करने लगे, अपने हृदय में धूप जलाए और सर्वोदय की तैयारी करे।

7-5-'33

□

पृष्ठ संख्या 04 का शेष भाग

हूँ। यह जरूरी नहीं कि बौद्धिक विकास के जो अनेक साधन है, उनमें साक्षरता को भी एक साधन माना ही जाय। हमारे प्राचीन काल में ऐसे-ऐसे बुद्धिशाली महापुरुष हुए हैं, जो बिलकुल अशिक्षित थे। यही कारण है कि हमने अपने को ऐसे ही साहित्य तक सीमित रखा है, जो अधिक-से-अधिक स्पष्ट और हितकर हो। जब तक हमें आपका हार्दिक सहयोग नहीं मिलता, और आप अपनी-अपनी भाषा में उपयुक्त साहित्य चुनने के लिये तैयार नहीं होते, तब तक हमें इसमें सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है? *(हरिजन सेवक, 3-4-'37)*

□

हिन्दी-हिन्दुस्तानी विवाद

✍ डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर'

गांधीजी ने अफ्रीका में रहते हुए ही यह कल्पना तैयार कर ली थी कि उत्तर भारत के हिन्दू और मुसलमान जिस भाषा को, आमतौर पर, बोलते हैं और जो देवनागरी तथा फारसी, दोनों ही लिपियों में लिखी जाती है, उसी भाषा को भारत की राष्ट्रभाषा का स्थान मिलना चाहिए। अवश्य ही, यह कल्पना उन्होंने भारत की सांस्कृतिक एकता को ध्यान में रख कर की होगी। मानसिक ऊहापोह के क्रम में गांधीजी का तर्क यह रहा होगा कि यदि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी राष्ट्रभाषा हुई, तो मुसलमान, क्रिस्तान और सिक्ख तथा पारसी उस भाषा को हिन्दुत्व की भाषा समझ कर उससे घबरायेगे। इसी तरह यदि अरबी-फारसी से भरी उर्दू भाषा राष्ट्रभाषा बनायी गयी, तो उसे हिन्दू स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि हिन्दू केवल हिन्दी भाषी प्रान्तों में ही नहीं बसते, वे अहिन्दी भाषी प्रान्तों में भी बसते हैं। अतएव वे इस निष्कर्ष पर आ गए कि जैसे भारत मिश्रित संस्कृतियों का देश है, उसी प्रकार उसकी राष्ट्रभाषा भी हिन्दी और उर्दू का मिश्रित रूप होगा। आजादी की लड़ाई के दिनों में हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या ही प्रधान थी। अतएव भारत के सभी प्रान्तों में ऐसे लोग थे, जो यह चाहते थे कि हिन्दी-उर्दू की एकता से अगर हिन्दू-मुस्लिम एकता की नींव पुष्ट होती है, तो उचित है कि भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी बना दी जाय।

इस भाषा की लिपि क्या होगी इस बारे में भी गांधीजी का मत स्पष्ट था। वे देवनागरी और फारसी, दोनों ही लिपियों का प्रयोग विहित मानते थे तथा उन्हें यह आशा थी कि काल-क्रम में जो लिपि अधिक सरल और सक्षम पायी जायगी, वह दूसरी लिपि पर विजय प्राप्त कर लेगी। दूसरी ओर उनका यह भी ख्याल था कि संस्कृत से निकली हुई भारत की सभी भाषाओं की लिपि देवनागरी होनी चाहिए। यहाँ तक कि वे द्रविड़ भाषाओं के लिए भी देवनागरी लिपि को उचित समझते थे। "जब मैं दक्षिण अफ्रीका में था, तब भी मैं मानता था कि संस्कृत से निकली हुई सभी भाषाओं की लिपि देवनागरी होनी चाहिए। और मुझे विश्वास है कि देवनागरी के द्वारा द्रविड़ भाषाएँ भी आसानी से सीखी जा सकती हैं। मैंने तमिल-तेलुगू को और कुछ दिन तक कन्नड़ व मलयालम को भी उनकी अपनी लिपियों द्वारा सीखने का प्रयत्न किया है। मैं आपसे कहता हूँ कि मुझे साफ दिखायी पड़ रहा था कि अगर इन चारों भाषाओं की लिपि देवनागरी ही होती, तो मैं उन्हें थोड़े ही समय में सीख सकता था।"

गांधीजी ने अपनी कल्पना की हिन्दुस्तानी को हिन्दी साहित्य सम्मेलन से स्वीकृत करवा लिया था। "सन् 1918 में मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति हुआ था। तभी मैंने हिन्दी भाषी जगत् को सुझाया था कि वह हिन्दी की अपनी व्याख्या को इतना प्रशस्त बना ले कि उसमें उर्दू का भी समावेश हो जाय। सन् 1935 ई. में जब मैं दुबारा सम्मेलन का सभापति बना तो मैंने हिन्दी शब्द की यह व्याख्या करायी कि हिन्दी वह भाषा है, जिसे हिन्दू-मुसलमान दोनों बोलते हैं और जो देवनागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाती है।" (राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी)

गांधीजी की प्रेरणा से यही हिन्दुस्तानी सन् 1925 ई. में अखिल भारतीय कांग्रेस की दफ्तरी भाषा मान ली गयी थी। और सन् 1938 ई. में कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने इसी हिन्दुस्तानी के प्रयोग में दुबारा अपनी आस्था प्रकट की थी। "कांग्रेस की

प्रचलित प्रथा के अनुसार हिन्दुस्तानी वह भाषा है, जिसे उत्तर भारत के लोग उपयोग में लाते हैं और जो देव-नागरी या उर्दू, दोनों लिपियों में लिखी जाती है।"

अगर हिन्दुओं और मुसलमानों के दिल साफ होते, तो गांधीजी का अभिप्राय पूरा हो गया होता यानी देश का बँटवारा नहीं होता और गांधीजी की कल्पना की हिन्दुस्तानी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो जाती। लेकिन, हिन्दुओं और मुसलमानों के हृदय साफ नहीं थे। भाषा के मामले में भी हिन्दुओं ने एक हद तक गांधीजी का साथ दिया, लेकिन उर्दू वालों ने सम्मेलन के द्वारा बढ़ाये गए हाथ को नहीं थामा। जैसे हिन्दी भाषियों का एक दल हिन्दुस्तानी को शंका की निगाह से देखता रहा, उसी प्रकार उर्दू वाले भी हिन्दुस्तानी को शंका की नजर से देखते रहे। उर्दू वालों ने गांधीजी पर यह लांछन लगाया कि वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तो सभापति हुए, मगर अंजुमन तरक्किए-उर्दू की उन्होंने सदारत नहीं की है। सम्मेलन के लिए उन्होंने चंदे उठाये हैं, मगर अंजुमन तरक्किए-उर्दू के लिए कुछ नहीं किया है। अवश्य ही, गांधीजी हिन्दुस्तानी की आड़ में हिन्दी का प्रचार कर रहे हैं और उर्दू की हस्ती को वे मिटाना चाहते हैं।

यह गांधीजी पर झूठा इलजाम था। उर्दू वालों ने गांधीजी का कभी इतना विश्वास नहीं किया कि वे उन्हें अपनी अंजुमन की सदारत करने का निमंत्रण देते। जहाँ तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सवाल है, गांधीजी ने उसका सभापतित्व अपनी शर्त पर स्वीकार किया था, सम्मेलन की शर्त पर नहीं। और सम्मेलन का उपयोग गांधीजी हिन्दुस्तानी के लिए करना चाहते थे यानी हिन्दी और उर्दू को आपस में नजदीक लाने के लिए करना चाहते थे। स्थिति इतनी साफ थी, फिर भी उर्दू वालों को विश्वास नहीं हुआ। उर्दू के नेता हिन्दी शब्द को ही बर्दाश्त करना नहीं चाहते थे।

"हिन्दी की जगह पर हिन्दी-हिन्दुस्तानी नाम मेरी ही तजवीज से स्वीकार किया गया था। अब्दुल हक साहब ने वहाँ जोरों से मेरी मुखालफत की। मैं उनका सुझाव मंजूर न कर सका। जो शब्द हिन्दी साहित्य सम्मेलन का था और जिसकी इस प्रकार की व्याख्या करने के लिए मैंने सम्मेलन वालों को मना लिया था कि उसमें उर्दू भी शामिल कर दी जाय, उस हिन्दी शब्द को मैं छोड़ देता तो मैं खुद अपने प्रति और सम्मेलन के प्रति भी हिंसा करने का दोषी होता। यहाँ हमें यह याद रखना चाहिए कि यह हिन्दी शब्द हिन्दुओं का गढ़ा हुआ नहीं है। यह तो इस मुल्क में मुसलमानों के आने के बाद उस भाषा को बतलाने के लिए बनाया गया था, जिसे उत्तर हिन्दुस्तान के हिन्दू बोलते और लिखते थे।" *(हरिजन सेवक, 10-4-'37)*

मुसलमानों की आपत्ति इस बात को लेकर थी कि "अदवी हैसियत के अलावा हिन्दी की एक मजहबी और तहजीबी हैसियत भी है, जिसे मुसलमानों की पूरी जमात अपना नहीं सकती। इसके अलावा अब वह बहुत से ऐसे अल्फाज अपने अन्दर शामिलकर रही है, जो बिल्कुल उसी के हैं और वे लोग जो सिर्फ उर्दू जानते हैं, उन्हें आम तौर पर समझ नहीं सकते।"

(राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी)

गांधीजी ने इस आक्षेप का उत्तर यह कह कर दिया था कि "अगर अगले जमाने के मुसलमानों ने हिन्दी को सीखा और उसे अदबी जबान की हैसियत दी, तो मौजूदा जमाने के मुसलमान उससे किनारा क्यों करें। बेशक, उस जमाने की हिन्दी में और आज की हिन्दी में आज की हिन्दी से कहीं ज्यादा मजहबी और तहजीबी हैसियत थी। तो क्या किसी भाषा की मजहबी और तहजीबी हैसियत से ही उस भाषा से हमें दूर रहना चाहिए? क्या मैं अरबी और फारसी से इसलिए बचूँ कि उन जवानों की मजहबी और तहजीबी हैसियत है?...सीधे-सादे प्रचलित शब्दों की जगह संस्कृत शब्द रखने या तद्भव शब्दों को संस्कृत तत्सम शब्दों का रूप देने का कृत्रिम तरीका निस्संदेह निन्दनीय है।" *(हरिजन सेवक, 23-5-'36)*

उर्दू के नेता इस उम्मीद में थे कि हिन्दुस्तानी

उर्दू का ही दूसरा नाम है। लेकिन मुंशी प्रेमचन्द की जिस भाषा को गांधीजी आदर्श मानते थे, उर्दू वालों को उसमें भी खोट दिखायी देती थी। उर्दू की ओर से एक पत्र लेखक ने गांधीजी को लिखा था कि "मुंशी प्रेमचन्द साहब आजकल हमारी अदबी दुनिया के शायद सबसे बड़े आदमी हैं। (लेकिन) 'हंस' पढ़ने से ऐसा ख्याल होता है कि यह किसी खास मजहबी समाज का रिसाला है।"

लेकिन गांधीजी से नाराजगी केवल उर्दू वालों को ही नहीं थी। उनसे कुछ हिन्दी वाले भी नाराज थे। "इस बारे में जहाँ कुछ मुसलमान दोस्त मुझसे नाखुश हैं, वहाँ हिन्दी मित्र भी कम असंतुष्ट नहीं हैं।" एक सज्जन ने तो सचमुच ही मुझे लिखा है कि अगरचे तर्क और इतिहास की दृष्टि से मेरी स्थिति सही है, फिर भी मुझे मुसलमान आलोचकों को संतुष्ट करने के लिए अपनी राय बदल लेनी चाहिए। यह आलोचक चाहते हैं कि एक ही भाषा का परिचय देने के लिए या तो मैं 'हिन्दी उर्दू' शब्द के प्रयोग का समर्थन करूं या सिर्फ उर्दू का।"

पैगम्बरों का जो हाल होता है, वही हाल गांधीजी का हुआ। जब उन्होंने यह सलाह दी कि संस्कृत से उत्पन्न या प्रभावित भाषाओं की लिपि एक हो और वह देवनागरी हो, तो किसी अहिन्दी भाषी आलोचक ने लिखा, "एक ही भाषा बोलने वाले हिन्दू और मुसलमान अपने लिए दो अलग लिपियां क्यों रखे हुए हैं?"

गांधीजी ने भारत आते ही हिन्दुस्तानी का आन्दोलन शुरू कर दिया था और हिन्दुस्तानी की आलोचना उस समय भी चलती थी, जब कविवर अकबर इलाहाबादी (मृत्यु सन् 1924 ई.) जीवित थे। वे गांधीजी के विचारों के पक्के समर्थक थे और हिन्दी-उर्दू को वे गांधीजी की ही दृष्टि से देखते थे। अपनी एक कविता में उन्होंने कहा था–

हम उर्दू को अरबी क्यों न करें?
वे उर्दू को भाषा क्यों न करें?
आपस में अदावत कुछ भी नहीं,
फिर भी इक अखाड़ा कायम है।
जब इससे फलक का दिल बहले,
हम लोग तमाशा क्यों न करें?

लोग गांधीजी से पूछते थे कि हिन्दी भाषा का भी साहित्य है और उर्दू का भी है। मगर हिन्दुस्तानी का साहित्य कहाँ है? ऐसे सवाल का जवाब देते हुए गांधीजी ने एक बार कहा था, जैसे गंगा और यमुना के बीच सरस्वती प्रच्छन्न भी है और प्रकट भी, उसी प्रकार हिन्दी और उर्दू के बीच हिन्दुस्तानी मौजूद है। लेकिन इसी सवाल के जवाब में उन्होंने दूसरी बार यह भी कहा कि "कभी-कभी लोग उर्दू को ही हिन्दुस्तानी भी कहते हैं। तो क्या कांग्रेस ने अपने विधान में उर्दू को ही हिन्दुस्तानी माना है? क्या उसमें हिन्दी का, जो सब से ज्यादा बोली जाती है, कोई स्थान नहीं है? यह तो अर्थ का अनर्थ करना होगा। स्पष्ट ही यहाँ इसका मतलब सिर्फ हिन्दी भी नहीं हो सकता। इसलिए इसका सही-सही मतलब तो हिन्दी और उर्दू हो सकता है। इन दोनों के मेल से ही एक ऐसी जबान तैयार करनी है, जो सब के काम आ सके। ऐसी कोई जबान जो लिखी भी जाती हो, आज प्रचलित नहीं है। लेकिन उत्तर भारत में आज भी करोड़ों अनपढ़ हिन्दुओं और मुसलमानों की यही एक बोली है। चूंकि वह लिखी नहीं जाती, इसलिए वह अपूर्ण है। और जो लिखी जाती है, उसकी दो अलग-अलग धाराएँ बन गयी हैं, जो दिन-ब-दिन एक-दूसरी से अलग हट रही हैं। आज हिन्दुस्तानी का अपना ऐसा कोई संगठन नहीं, जो इन एक- दूसरी से दूर भागती हुई दो धाराओं को नजदीक आने और मिलाने की कोशिश में लगा हो।"

(हरिजन सेवक, 1 फरवरी, 1942 ई.)

जैसे गांधीजी ने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करने के लिए आजीवन प्रयास किया, वैसे ही उन्होंने हिन्दी और उर्दू को भी एक करने के भगीरथ प्रयत्न किये। किन्तु उनके इन दो उद्देश्यों में से एक भी पूरा

नहीं हो सका। गांधीजी ने कांग्रेस में हिन्दी-हिन्दुस्तानी चला तो दी थी, किन्तु उसका प्रयोग केवल भाषणों में होता था। हिन्दी-हिन्दुस्तानी को स्वीकार तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने भी कर लिया था, मगर, व्यवहार में केवल यह बात फैल गयी कि 'हिन्दुस्तानी के प्रचार के बहाने कांग्रेसी सरकार हिन्दू-संस्कृति को विनष्ट कर रही है।'

सन् 1938 ई. में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन काशी में हुआ, जिसके मंच पर अन्य नेताओं के साथ देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद जी भी विराजमान थे। वहाँ किसी ने बिहार सरकार की निन्दा का प्रस्ताव पेश कर दिया और बिहार में प्रकाशित रीडरों का हवाला देकर लोग कटु से कटु भाषण देने लगे। राजेन्द्र बाबू पर इन भाषणों का प्रभाव पड़ा। उन्होंने उठ कर सभा से निवेदन किया कि निन्दा का प्रस्ताव आप पास मत करें। मैं रीडरों को नष्ट करवा दूँगा। राजेन्द्र बाबू के इस आश्वासन के बाद प्रस्ताव वापस ले लिया गया और बाद में रीडरें जला दी गयीं। किन्तु इस घटना ने देश में हिन्दी-हिन्दुस्तानी की लड़ाई को और भी तीखा कर दिया।

दूसरे वर्ष यानी सन् 1939 ई. में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन पंजाब के अबोहर नामक शहर में होने वाला था। हिन्दुस्तानी के समर्थकों ने चाहा कि यह आजमाइश हो जाय कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रतिनिधि हिन्दुस्तानी का साथ देते हैं या नहीं। इस ध्येय को सामने रख कर उन्होंने अबोहर सम्मेलन के सभापति पद के लिए देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद का नाम प्रस्तावित कर दिया। यह देख कर हिन्दुस्तानी के विरोधियों ने राजेन्द्र बाबू के मुकाबिले में डाक्टर अमरनाथ झा को खड़ा कर दिया। परिणाम यह हुआ कि राजेन्द्र बाबू चुनाव हार गए और सम्मेलन के अबोहर-अधिवेशन ने यह तय कर दिया कि सम्मेलन की दिलचस्पी केवल हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचार में है।

इस सम्मेलन में काका साहेब कालेलकर भी पधारे हुए थे और सम्मेलन के मंच से बोलते हुए उन्होंने कहा था कि "हम राष्ट्रहित की दृष्टि से राष्ट्रभाषा की सेवा करना चाहते हैं और कर रहे हैं। परन्तु, 'हिन्दी' नाम से काम करने में हमारे सामने रुकावटें आती हैं। इसलिए 'हिन्दी' नाम से हम काम नहीं कर सकते। आप राष्ट्रभाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' रखें, तो हमें काम करने में सुविधा होगी।"

काका साहब के जवाब में बोलने वालों का भाव यह था कि "जो लोग हिन्दुस्तानी नाम रख रहे हैं और उस नाम से काम करने में सुविधा समझते हैं, उनसे हमारा कोई झगड़ा नहीं है। हम न हिन्दुस्तानी का विरोध करते हैं, न उर्दू का। हम तो हिन्दी नागरी का प्रचार करते हैं। आप दोनों लिपियों का प्रचार चाहते हैं, तो हम एक लिपि का प्रचार करके आपके आधे बोझ को कुछ हलका ही करते हैं।"

इसके बाद से हिन्दी-हिन्दुस्तानी का संघर्ष और भी विकराल हो गया। जो लोग गांधीजी के अनुयायी समझे जाते थे, उनमें से भी बहुत से लोग खुले आम यह कहने लगे कि हिन्दी के स्थान पर हिन्दुस्तानी नहीं चलेगी। हिन्दुस्तानी के समर्थन में काका साहब कालेलकर, विनोबा जी, राजा जी, राजेन्द्र बाबू आदि नेता खुल कर गांधीजी के साथ थे। किन्तु टंडन जी हिन्दुस्तानी के विरोध में डट गए और डॉ. संपूर्णानन्द, पं. बालकृष्ण शर्मा नवीन, श्री वियोगीहरि तथा श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी और काका गाडगिल ने टंडन जी का साथ दिया।

सम्मेलन से निराश हो जाने के बाद गांधीजी ने चाहा कि सम्मेलन अपनी ही कल्पना की हिन्दी का प्रचार करना चाहता है तो करे, किन्तु, राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा को हिन्दुस्तानी का प्रचार करने की छूट दे। किन्तु, सम्मेलन ने गांधीजी की यह इच्छा भी पूरी नहीं होने दी। समिति सम्मेलन की शाखा की तरह काम कर रही थी। सम्मेलन इसके लिए तैयार न हुआ कि समिति दो लिपियों के प्रचार में लगे। निदान, गांधीजी की प्रेरणा से काका साहब कालेलकर के नेतृत्व में

वर्धा में ही 2 मई, सन् 1952 ई. को हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना की गयी। यह सभा हिन्दी-हिन्दुस्तानी-संघर्ष में हिन्दुस्तानी का प्रचार करने के लिये बनी थी, किन्तु, सन् बयालीस की क्रान्ति में सभी नेता पकड़ कर जेलों में डाल दिए गए और हिन्दुस्तानी प्रचार का काम प्राय: ठप पड़ गया।

गांधीजी को इस नयी संस्था से इतना प्रेम था कि 9 अगस्त, 1942 ई. के 'हरिजन सेवक' में भी उनका यह नोट छपा था कि "सभा का संदेश यह है कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा अंग्रेजी नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानी यानी हिन्दी-जोड़-उर्दू है। कांग्रेस के हिन्दुस्तानी-संबंधी प्रस्ताव के कर्ता, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्राण-रूप श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ही थे। उन्होंने मुझे यह बात बहुत साफ तौर पर समझायी थी कि आज की हालत में हिन्दुस्तानी का मतलब हिन्दी-उर्दू ही होना चाहिए।. .. इस सभा के संस्थापक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सदस्य थे और हैं, लेकिन जब केवल हिन्दी के प्रचार से उनकी महत्त्वाकांक्षा तृप्त न हो पायी, उन्होंने सम्मेलन की स्वीकृति से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा स्थापित की।"

1942 की क्रान्ति में नेतागण तो जेल चले गए, लेकिन श्री अमृतलाल नानावटी जेल से बाहर थे। अतएव गुजरात विद्यापीठ के द्वारा उन्होंने हिन्दुस्तानी का प्रचार आरंभ कर दिया। इसी प्रयोग के आधार पर 1944 के बाद, कार्यकर्ताओं के रिहा होने पर, अन्य प्रान्तों में भी हिन्दुस्तानी के प्रचार का कार्यक्रम बनाया गया।

इस समय तक हिन्दी-हिन्दुस्तानी का विवाद केवल हिन्दी-भाषी प्रान्तों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि उसकी छूत हिन्दी प्रचारकों को भी लग गयी और दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में काम करने वाले हिन्दी प्रचारक भी दो दलों में बंट गये। यह वह समय था, जब पाकिस्तान बनाने का आन्दोलन अपने पूरे उरूज पर था। असल में, इन वर्षों में वह तूफान सज रहा था, जिसका विस्फोट सन् 1946-47 में होने वाला था। पाकिस्तान का आन्दोलन जितना तेज होता जाता था, अखण्ड भारतवासियों का हृदय उतना ही दग्ध होता जा रहा था। लोग मन ही मन यह सोच कर विस्मित हो रहे थे कि आखिर गांधीजी किस आशा में हिन्दू-मुस्लिम-पैक्ट की भाषा पर इतना जोर दे रहे हैं।

किन्तु, गांधीजी अपनी आस्था पर अडिग खड़े थे। वे सम्मेलन वालों को पहले भी कह चुके थे कि आप इस इन्तजार में समय न बर्बाद करें कि अंजुमन तरक्किए-उर्दू हिन्दुस्तानी को कब अपनायेगी। अगर हिन्दुस्तानी का प्रचार राष्ट्र के हित में है, तो उस काम को किसी का भी इन्तजार किए बिना आपको करना चाहिए। फिर 27 फरवरी, 1945 ई. को हिन्दुस्तानी कॉन्फ्रेंस में बोलते हुए उन्होंने कहा, "हिन्दी और उर्दू के जो अलग-अलग फिरके पैदा हो गए हैं, उन्हें रोकने का काम मेरे जैसे लोगों का है।...मुझसे कहा गया है कि मुस्लिम लड़के तो नागरी लिपि नहीं सीखते। मैं कहता हूँ, अगर ऐसा है, तो तुमने कुछ नहीं खोया, उन्होंने खोया। एक और लिपि सीख ली तो उससे नुकसान क्या हुआ?...अगर हिन्दी और उर्दू मिल जायें, तो गंगा-यमुना से बड़ी सरस्वती हुगली की तरह बन जायेगी।" *(राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी)*

गांधीजी जितने ही जोर से हिन्दुस्तानी का समर्थन कर रहे थे, सम्मेलन के लोग उतने ही जोर से उसका विरोध कर रहे थे। अन्त में वह स्थिति आयी, जब महात्मा गांधी को सम्मेलन की सदस्यता से इस्तीफा देना पड़ा। गांधीजी ने अपना इस्तीफा 28 मई 1945 ई. को टंडन जी के पास भेजा। फिर दोनों महापुरुषों के बीच लंबा पत्राचार चला और अन्त में गांधीजी का इस्तीफा स्वीकार कर लिया गया। गांधीजी के पत्र को टंडन जी ने सम्मेलन की स्थायी समिति में न रखकर उसके जयपुर वाले खुले अधिवेशन के समक्ष रख दिया। उस समय सम्मेलन जिस परेशानी और पेशोपेश में पड़ा, उसका वर्णन करते हुए आचार्य किशोरीदास जी वाजपेयी ने लिखा है-

"लोगों के हृदय उद्वेलित थे। महात्मा जी सम्मेलन

छोड़ जायेंगे, तो क्या होगा? सम्मेलन का क्या रहेगा? त्याग-पत्र स्वीकार न हो, इसका एक ही उपाय था, नागरी के साथ-साथ फारसी लिपि का भी अनिवार्य प्रचार तथा हिन्दी की जगह हिन्दुस्तानी भाषा को ग्रहण करना। यह सब सम्मेलन के मूल उद्देश्य से बहुत दूर, बल्कि, विपरीत था। उद्देश्य छोड़ो या फिर महात्मा जी के महान् व्यक्तित्व के सहयोग से मिलने वाली शक्ति छोड़ो। जयपुर में इस विषय पर बड़ा समुद्र-मंथन हुआ। संध्या से विचार प्रारम्भ हुआ और रात के दो बज गये। अन्ततः बड़े ही दुःख के साथ, धड़कते हुए हृदय से, आंसूओं को रोक कर सम्मेलन ने महात्मा जी का त्याग-पत्र स्वीकार किया।"

सम्मेलन से गांधीजी के इस्तीफे की प्रतिक्रिया लगभग सारे देश में हुई, किन्तु, उसका गंभीर रूप गुजरात, महाराष्ट्र और मद्रास में प्रकट हुआ। 25 जनवरी, सन् 1946 ई. को मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की रजत जयन्ती के मौके पर गांधीजी ने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने कहा, "हिन्दुस्तानी की सेवा करने को मैं 125 बरस तक जिन्दा रहना चाहता हूँ।... दूसरा काम भी करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। हमारी सभा का नाम हिन्दी प्रचार सभा है। अब इसका नाम हिन्दी प्रचार सभा नहीं रहेगा। हिन्दी शब्द के बदले अब हमें हिन्दुस्तानी शब्द लेना है।" और उसी दिन से दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ने अपने नाम को बदल कर "हिन्दुस्तानी प्रचार सभा" कर दिया। गांधीजी ने हिन्दुस्तानी नाम की सिफारिश अपने 27-1-1946 वाले भाषण में भी की थी। "आज आप लोग जो प्रतिज्ञा लेंगे, उसमें अब हमारी राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी न रहकर हिन्दुस्तानी रहेगा। हमारी राष्ट्रभाषा एक लिपि में नहीं, बल्कि दो लिपियों में लिखी जायेगी। राष्ट्रभाषा प्रचार कार्य के लिए द्रव्य देनेवालों को भी यह बात पहले समझा देनी चाहिए। हमारा काम उन्हें पसन्द है या नहीं, यह देख कर मदद दें।"

सन 1946 और 47 के वर्ष भारत में सांप्रदायिक द्वेष और घृणा के भयानक विस्फोट के वर्ष थे। किन्तु, जहर ज्यों-ज्यों ज्यादा होता जाता था, गांधीजी की अमृतमयी वाणी भी प्रखर होती जा रही थी।

"हिन्दी और उर्दू नदियाँ हैं और हिन्दुस्तानी सागर है।"

"दोनों बहनों को आपस में झगड़ा नहीं करना है। मुकाबला तो अंग्रेजी से है।"

"सवाल तो यह है कि अंग्रेजी का प्रभाव और मोह कैसे मिटे? उसे मिटाना स्वराज्य की लड़ाई का बड़ा हिस्सा है, नहीं तो स्वराज्य के मानी बदलने होंगे।"

"अंग्रेजी जानने वाले राष्ट्रभाषा जानने वालों से दस गुना ज्यादा कमाते हैं। ऐसे लोगों का दाम तो अंग्रेजी सल्तनत के जाने के बाद एकदम गिरना चाहिए।"

जब पाकिस्तान का निर्माण हो गया, गांधीजी ने हिन्दुस्तानी की टेर तब भी बन्द नहीं की।

"हिन्दुस्तानी में सब की बोली एक ही हो सकती है। मैं तो एक कदम आगे बढ़कर कहता हूँ कि अगर दोनों राज्य एक दूसरे के दुश्मन नहीं, दिल से दोस्त बनते हैं, तो दोनों तरफ सब नागरी और उर्दू लिपि में लिखेंगे।" *(हरिजन सेवक, 5-10-1947)*

"मैंने अखबारों में पढ़ा कि आगे से यू.पी. की सरकार की सरकारी भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। इससे मुझे दुःख हुआ।...उचित बात यह है कि दोनों लिपियाँ रखी जायें और सारे सरकारी कामों में उनमें से किसी का भी प्रयोग करने की मंजूरी दी जाय।" *(हरिजन सेवक, 26-10-1947)*

स्वराज्य हो जाने पर श्रीमती रेहाना बहन तैयब जी ने गांधीजी को लिखा कि "15 अगस्त के बाद दो लिपियों के बारे में मेरे ख्याल बिलकुल बदल गये और अब पक्के हो गए हैं।...हिन्दुस्तान पर उर्दू लिपि लादने में इतना ही नहीं कि कोई फायदा नहीं है, बल्कि सख्त नुकसान है। उर्दू लिपि सामाजिक मेलजोल की जगह कभी नहीं ले सकती।...अगर वे हिन्दुस्तान में रहना चाहते हैं, तो हिन्दुस्तानियों की तरह रहें। बेशक

शेष भाग कवर पृष्ठ 14 पर

नागरिक का धर्म

✍ **यशपाल जैन**

किसी भी समाज और देश की उन्नति उसके बड़े-बड़े कल-कारखानों तथा ऊँचे-ऊँचे भवनों पर निर्भर नहीं करती। वह निर्भर करती है उसके नागरिकों पर, नागरिकों के चरित्र पर, उनकी कर्त्तव्य-निष्ठा और उनके कर्त्तव्य पालन पर। एक समय था, जबकि हमारे देशवासी नागरिक की गुणवत्ता पर सबसे अधिक जोर देते थे और नागरिक के कर्त्तव्य को सर्वोपरि मानते थे। यही कारण है कि प्राचीन काल में भारत ने अपनी चरित्र-सम्पदा को बहुत ही सहेजकर रक्खा था। फलत: दुनिया में उसका नाम ऊँचा हुआ। विख्यात कवि इकबाल ने उसी की ओर लक्ष्य करके कहा–

"यूनान, मिस्र, रूमां सब मिट गये जहाँ से
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।"

भौतिक साधनों की दृष्टि से भारत के पास कुछ भी नहीं था, किन्तु चरित्र की दृष्टि से उसके पास इतनी अनमोल निधि थी कि वैभवशाली राष्ट्रों ने भी उसके सामने सिर झुकाया। गांधीजी ने आधुनिक युग में उस कीर्ति में चार चांद लगाये। सम्पूर्ण विश्व ने अनुभव किया कि गांधी जैसा चरित्र का धनी संसार में दूसरा व्यक्ति नहीं है। लेकिन देश के आजाद होते ही मूल्य बदले, स्थिति बदली, परिवेश बदला और चरित्र गौण हो गया। जब भौतिक मूल्यों की प्रधानता हो जाती है और उनकी उपासना होने लगती है, तब नैतिक मूल्यों का हनन हो जाता है। आज दुर्भाग्य से सारा देश धन-सम्पदा के पीछे दौड़ रहा है। छाया को उसने पकड़ रक्खा है, सार उसके हाथ से निकल गया है। इसी से चारों ओर विकृतियाँ-ही-विकृतियाँ फैल गयी हैं।

आज हमारे देश का नागरिक विपन्नावस्था में पहुँच गया है। वह भारत के इतिहास को भूल गया है और उसके लिए स्वार्थ इतना प्रबल हो गया है कि चरित्र का मूल्य ही नहीं रहा। जाने क्या-क्या बुराइयां देश की जड़ को खोखला कर रही हैं। मजे की बात यह है कि भौतिक मूल्यों के लुभावने सपने उसके लिए इतने आकर्षक हो गये हैं कि विनाश-लीला का खुला ताण्डव अपनी आँखों से देखते हुए भी उसे होश नहीं आता। बड़ी तेजी से वह रसातल की ओर दौड़ रहा है। आज नागरिक के लिए प्रलोभनों पर विजय पाना बड़ा कठिन हो गया है, क्योंकि उसने समझ लिया है कि वर्तमान युग की सबसे बड़ी उपलब्धि भौतिक सम्पदा एकत्र करना है और कोई भी दुष्कृत्य उसके लिए वर्जित नहीं है। ऐसी दशा में यदि इस पुस्तक के विचार उसकी चेतना के तारों को किसी भी अंश में स्पर्श करता है तो वह हमारी बड़ी सफलता होगी। यह नहीं कि हमारे देश में आज भले नागरिक हैं ही नहीं, वैसे नागरिक हैं, लेकिन उनकी गुणवत्ता पर पर्दा पड़ गया है। उस पर्दे को हटाना होगा। जिस समय वह पर्दा हट जायेगा, नागरिक देखेगा कि उसके सामने गंगा की निर्मल धारा प्रवाहित होने लगी है। इससे उसे जिस आनन्द की अनुभूति होगी, वह सारे संसार की भौतिक सम्पदा मिलने पर भी नहीं हो सकती। उसी आनन्द की प्राप्ति के लिए हम प्रयत्न करें। वही नागरिक का धर्म है, वही नागरिक का कर्त्तव्य है।

हम क्या करें?

देश की वर्तमान व्यवस्था को बदलने के लिए बहुत-से काम हैं, जो नागरिक कर सकते हैं और उन्हें करने चाहिए। सबसे पहले उन्हें सोचना है कि मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है? सत्ता प्राप्त करना? धन-सम्पत्ति जुटाना? भौतिक सुविधाएँ एकत्र करना? नहीं, यह मानव-जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकता।

सत्ताधारियों के नाम धूल में मिल जाते हैं। धन-सम्पत्ति कभी किसी की सगी होकर नहीं रहती। आज का कुबेर कल का रंक हो जाता है और आडम्बर आदमी को जीवन भर भटकाता है। सिकन्दर ने, क्या था, जो अर्जित नहीं किया। पर अंत में उसी के बारे में कवि ने कहा था–

"आया था यहाँ सिकन्दर, दुनिया से ले गया क्या?

ये दोनों हाथ खाली, बाहर कफन से निकले।"

यही जीवन का यथार्थ है। व्यक्ति न कुछ लेकर आता है, न कुछ लेकर जाता है। जीवन का उद्देश्य वह पाना नहीं हो सकता, जो हमारे लिए संकट उत्पन्न करता है और हमें दिग्भ्रमित करता है। तब हम क्या करें?

1. अपने मन को नियंत्रित करें। संसार का सारा खेल मन के कारण है। जिसने मन को जीत लिया, उसने जग को जीत लिया।
2. अपनी इच्छाओं को सीमित रक्खें। जीवन-यापन के लिए जो नितान्त आवश्यक हो, उतना ही प्राप्त करें। यदि अधिक हो तो उसे 'जनता की धरोहर' मानकर उसका लोक-कल्याण के लिए उपयोग करें।
3. अपना मुँह सत्ता की ओर न रखकर सेवा की ओर रखें। आज की अधिकांश बुराइयाँ सत्ता लोलुपता के कारण हैं। इसलिए सत्ता के लालच से बचें और सेवा में संलग्न रहें।

आत्म-शोधन के लिए हर घड़ी जागरूक रहें। याद रखें कि चोर उसी घर में आते हैं, जिस घर के लोग सोते हैं। स्वार्थ, क्रोध, लोभ आदि चोर ही तो हैं। आदमी जैसे ही असावधान होता है, ये उस पर आक्रमण कर देते हैं।

सबसे बड़ा धर्म मानव-धर्म है। उसी की आराधना करें। उसी में सारे धर्म समा जाते हैं।

सबके प्रति प्रेम और करुणा का भाव रखें। सब अपने हैं, पराया कोई नहीं है, यह भावना पैदा होते ही अंतर में अमृत-घट का मुँह खुल जाता है। आनन्द की धारा बहने लगती है। उसी की आकांक्षा हर आदमी को करनी चाहिए। प्रमाद में एक पल भी न खोयें। प्रमाद मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है।

विचारों को शुद्ध रखने के लिए उत्तम ग्रंथों का नित्य स्वाध्याय करें। कर्म का उद्‌गम विचार होते हैं। विचार शुद्ध होंगे तो कर्म अपने आप शुद्ध हो जायेगा। आहार-विहार शुद्ध और भोजन सात्विक रखें। कहा गया है कि आदमी जैसा अन्न खाता है, वैसा ही उसका मन बनता है।

अपने चारों ओर स्वच्छता रक्खें। जिस प्रकार गंदगी में कीड़े पैदा होते हैं और पनपते हैं, उसी प्रकार अस्वच्छता में विकारों का जन्म होता है।

रात को सोते समय और सवेरे जागते समय चिन्तन करें कि हमारे जीवन का ध्येय क्या है और उस ध्येय को सामने रखकर अपनी दिनचर्या निश्चित करें। यह न भूलें कि मनुष्य का चरित्र ही सबसे अधिक मूल्यवान होता है।

□

पृष्ठ संख्या 12 का शेष भाग

उन्हें उर्दू सीखने की सहूलियतें दी जायें। मगर उन्हें खुश करने की खातिर हिन्दुस्तान की सारी जनता पर उर्दू लिपि क्यों लादी जाय?...उर्दू लिपि के आग्रह से हमारा बोझ चौगुना हो जाता है।...हम हिन्दुस्तानियों का यही सूत्र रहे कि हमारी राष्ट्रलिपि नागरी। बस।"

मगर गांधीजी ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा–"अगर राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी है, तो उसे दोनों लिपियों में लिखने की छूट होनी चाहिए। अगर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना है, तो लिपि नागरी ही होगी, अगर उर्दू को बनाना है, तो लिपि उर्दू ही होगी। अगर हिन्दी-उर्दू के संगम के जरिये हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाना है, तो दोनों लिपियाँ जरूरी हैं।"

(राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी)

□

मीराँ के गुजराती पद

✍ **अम्बाशंकर नागर**

राजस्थान और गुजरात की जनता ने मीराँ को जितना समझा और सराहा है उतना संभवत: अभी हिन्दी भाषा-भाषियों से नहीं बन पड़ा। वैसे मीराँ और उसकी अमर वाणी किसी एक प्रदेश की संपत्ति नहीं है, वह संपूर्ण भारतवर्ष की एक अमूल्य थाती है। बंगाल से लेकर गुजरात और बद्रीविशाल से लेकर रामेश्वरम् तक उसकी वाणी का प्रसार है। बंगाली, मराठी, सिंधी, पंजाबी आदि अहिन्दी भाषियों ने तो मीराँ को स्वभाषा के कवियों से भी अधिक मान दिया है। दक्षिण के तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ भाषी प्रदेशों में जहाँ भाषा की भिन्नता के कारण हमारे अन्य कवि नहीं पहुँच पाये हैं, वहाँ भी मीराँ का नाम श्रद्धा और भक्ति के साथ लिया जाता है। मीराँ के व्यक्तित्व और उसकी वाणी में कुछ सम्मोहन ही ऐसा है कि जिसके सामने भाषा, संप्रदाय और प्रांतों के प्राचीर डगमगा जाते हैं।

मीराँ के संबंध में न जाने क्यों हमारे साहित्य मनीषियों की उदासीनता अभी तक ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। अभी तक हमारे पास मीराँ के पदों का एक भी ऐसा संग्रह नहीं है जिसे पूर्णतया प्रामाणिक कहा जा सके। यह सच है कि जब तक कोई हस्तलिखित प्रति मीरा के पदों की न मिल जाय, पदों का ठीक-ठीक संपादन नहीं किया जा सकता[1] और यदि किया जा सकता है तो उस पर प्रामाणिकता की मुहर नहीं लग सकती; पर इस तरह हाथ पर हाथ धरकर बैठने से काम नहीं चल सकता। मीराँ के संबंध में पर्याप्त खोज की आवश्यकता है।

अब तक के संग्रहों में बेलवेडियर प्रेस का संग्रह प्रामाणिक कहा जाता है, पर उसमें केवल 168 पद हैं। अन्य संग्रहों में पदों की संख्या 200-250 तक भी देखने में आई है, पर राजस्थानी और गुजराती भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण बहुत से संपादकों से पाठ में भयंकर भूलें हुई हैं।

इस दिशा में श्री परशुराम चतुर्वेदी, धीर श्री नरोत्तम स्वामी के प्रयत्न नि:संदेह स्तुत्य हैं। पर इन महानुभावों ने भी उपलब्ध सामग्री को जनता के सामने रखकर ही संतोष कर लिया है। अतएव मीराँ के पदों के संबंध में खोज की आवश्यकता अभी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

कुछ समय पहले जयपुर के पू. हरिनारायणजी ने मीराँ के 500 पदों का एक संग्रह तैयार किया था जो दुर्भाग्यवश उनके जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो सका और अब उसके प्रकाश में आने की कोई आशा शेष नहीं है। इसी प्रकार सुनने में आया है कि काका साहब ने भी मीराँ के लगभग 500 पदों का एक संग्रह अपनी देखरेख में तैयार करवाया था पर वह भी किसी ऐसे आदमी के हाथों कि आज कहाँ और किस अवस्था में है कुछ पता नहीं।[2]

दूसरी ओर मीराँ के पदों के सम्बन्ध में विद्वानों की कुछ इस प्रकार की धारणाएँ बन गई हैं–

"सब मिलाकर भी मीराँ के नाम से प्रचलित पदों की संख्या अधिक नहीं है। संभवत: गुजराती पदों को मिलाकर भी संख्या 400 के ही लगभग पहुँचेगी। इन थोड़े पदों में भी मीराँ के रचित पद थोड़े ही हैं। अधिकांश पदों की प्रामाणिकता में बहुत संदेह है।"

–डॉ. कृष्णलाल 'मीराँबाई'।

---

1. "जब तक मीराँ के पदों की कोई हस्तलिपि प्रति नहीं मिल जाती तब तक पदों की पाठ शुद्धि या उनका संपादन करना मेरे मत से अनुचित है।" –'मीराँ की प्रेम वाणी' –कंटक
2. काका साहब के साथ हिन्दुस्तानी प्रचार का काम करने वाले श्री नरेश मंत्री के पत्र के आधार पर।

इसी प्रकार "राजस्थानी भाषा और साहित्य" में पू. श्री मोतीलालजी मनारिया ने लिखा है– "कुल मिला कर मीराँ के पदों की संख्या 200–250 से अधिक नहीं है।"

हो सकता है, मीराँ के प्रामाणिक पद इतने ही हों। मेरा आग्रह तो केवल इतना है कि जो अप्रामाणिक पद हैं, उन्हें भी एक बार कसौटी पर कसकर परख तो लिया जाय। मेरी अब तक की खोज के आधार पर मीराँबाई के 500 से कहीं अधिक पद यत्र-तत्र बिखरे हुए मिले हैं, जिनमें से लगभग 125 पद गुजराती साहित्य की संपत्ति बने हुए हैं।

यदि यह मान लिया जाय कि गुजराती पदों की रचना करने वाली मीराँ भी वही मीरा है तो कोई कारण नहीं है कि मीराँ के गुजराती पदों में इन पदों को न जोड़ा जाय।

अब यह सिद्ध हो चुका है कि मीराँ के जीवन के अन्तिम दस-पन्द्रह वर्ष गुजरात में बीते। गुजराती भाषा और साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् के.का. शास्त्री[3] और श्री तारापुरवाला[4] ने भी इसे स्वीकार किया है तथा मीराँ के एक गुजराती पद[5] से भी इसकी पुष्टि होती है।

अत: मीराँ ने गुजरात में रहकर यदि अपने आराध्य के गुणों का गान गुजराती में किया हो तो, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। आज भी राजस्थानी और गुजराती भाषा में अधिक अन्तर नहीं है। राजस्थानी भाषा-भाषी तो एक-दो साल में ही काम चलाऊ गुजराती बोलने लगता है। और फिर 16वीं शताब्दी में तो यह भाषा-भेद नहीं के बराबर रहा होगा। डाक्टर सीटरी के मतानुसार उन दिनों गुजरात और राजस्थान की एक ही भाषा थी, जिसे उन्होंने "प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी" कहा है।

मीराँ का जन्म राजस्थान में हुआ। श्री कृष्ण के क्रीडा-स्थल ब्रज-मण्डल के प्रति भी मीराँ के हृदय में अत्यधिक मोह रहा। जीवन के अन्तिम दस-पन्द्रह वर्ष उन्होंने गुजरात में बिताये, जहाँ द्वारकापुरी में श्री रणछोड़ के चरणों में ही उनका स्वर्गवास हुआ। इस प्रकार राजस्थान, ब्रज और गुजरात इन तीनों प्रदेशों से मीराँ का निकट सम्बन्ध रहा है। यही कारण है कि मीराँ ने राजस्थानी, ब्रज और गुजराती इन तीनों ही भाषाओं में रचनाएँ की हैं। यहाँ पर हम मीराँबाई पर गुजराती कवि के रूप में संक्षेप में विचार करेंगे।

जिस प्रकार विद्यापति पर बंगाली भाषा-भाषी अपना अधिकार मानते हैं, उसी प्रकार मीराँ को गुजराती भाषी अपना कवि मानते हैं। मीराँ और नरसी की गणना गुजराती के आदि कवियों में की जाती है। गुजराती भाषी मीराँ को अपना कवि कहने में एक प्रकार के गौरव का अनुभव करते हैं। मीराँबाई की भूमिका में पं. भानमुखराम निगुणराम महेता लिखते हैं–

"यह विदुषी बाई मूल गुजरात की तो नहीं थी लेकिन इसके बहुत से पद गुजराती भाषा में हैं। इससे उसे गुजराती कवि के रूप में हम गिनते हैं। इतना ही नहीं, उसके लिये हम अभिमान का भी अनुभव करते हैं।"[6]

इसी प्रकार 'बृहत् काव्य दोहन' की भूमिका में

---

3. मीराँबाई सं. 1588 पछी मेवाडमां के मारवारडमां रही होय तेवुं जणातुं नथी ×× ×× मीराँबाई सं. 1588 लगभग द्वारकागयेली अने त्यांज येणे पोतानू शेष जीवन गाळयुं संभवेछे।" –'कवि चरित' भाग 1 पं. केशवराम का. शास्त्री)
4. "But her Last earthly home was Dwarka, also closely knit with the name of krishna. Her last days were passed with fullest enjoyment of peace and in the worship of her beloved god"–Classical Gujrati Literature, Vol I.
5. 'सांढवाला सांढ शणगारजेरे, जाऊँ कोश। राणाजीरा देश मारे मारे, जळरे पीध्वानो दोष।।
डाबो मेल्यो मेवाडरे, मीराँ गई पच्चिम मांय। सरब छोड़ी मीराँ नीसय, जेन मायामां मनडून कोय।।'
6. "आ विदूषी बाई तळ गुजरातनी तो नहती तथापि तेना घणा पदो गुजराती भाषामां छे, तेथी ग्रेने गुजराती कवि तरीके श्रापणे गणिये छिये, ऐटलूज नहीं पण तेने माटे आपणे अभिमान पण धराविये छिये।"
–भानुसुखराम निर्गुणराम महेता 'मीराँबाई'।

रा.रा. तन सुखराम मनसुखराम त्रिपाठी लिखते हैं–

"मीराँबाई का संपर्क जन्म के कारण मारवाडी से, विवाह के कारण मेवाडी से, वृन्दावन निवास के कारण ब्रजभाषा से तथा द्वारका में रहने के कारण गुजराती भाषा से स्थापित हुआ था। अतएव चारों भाषाओं का तथा किसी-किसी एक ही पद में चारों भाषाओं का सम्मिश्रण इनकी रचनाओं में देखने में आता है। इनमें मारवाडी भाषा, गुजराती तथा हिन्दी के एक जातीय मिश्रण के समान है। इसलिये मीराँबाई की कविता के गुजराती तथा हिन्दी–इस प्रकार केवल दो ही भाषा मूलक भेद किये जा सकते हैं।"[7]

और गुजराती साहित्य के इतिहासकार श्री कृष्णलाल जवेरी 'माइल स्टोन्स आँव गुजराती लिटरेचर' में मीराँ को गुजराती का कवि मानते हुए लिखते हैं–

"मीराँबाई जन्म से गुजराती नहीं थी, और उसने द्वारका आने के बाद ही गुजराती सीखी होगी।"[8]

इन उद्धरणों से मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि मीराँ के अन्तिम दिन गुजरात में बीते हैं। हिन्दी के साथ-साथ गुजराती में भी उसने रचनाएँ की हैं। वह हिन्दी की ही कवि नहीं, गुजराती की भी श्रेष्ठ कवि है। भाषा और लिपि भेद के कारण मीराँ के गुजराती पद हिन्दी भाषियों के सामने अभी तक नहीं पहुँचे हैं। पर अब भारतीय भाषाओं के ये अभेद्य प्राचीर ढहते जा रहे हैं। अब हम अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अंचल में छिपी साहित्य संपदा की अधिक अवहेलना नहीं कर सकते। और फिर मीराँ के पद तो हमारे ही हैं।

मीराँबाई के गुजराती पद निश्चय ही मीराँ के काव्य की प्रौढ़ता के परिचायक हैं। भाषा और भाव की दृष्टि से भी वे अत्यन्त सरस और सुमधुर हैं। भक्ति की आधार-भूमि पर तन्मयता, भावुकता और संगीतात्मकता का जो अपूर्व समन्वय इन पदों में देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। रसास्वादन के लिये मीराँ के कुछ गुजराती पद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

(1)

भक्ति

मुखडानी[1] माया लागी[2] रे, मोहन प्यारा ।।टेक।।
मुखडुं में जोयु[3] तारु[4], सर्व जग थयुं[5] खारुं।
मन मारुं, रह्युं[6] न्यारुं रे; मोहन प्यारा।।
संसारी नु सुख एवुं[7] झाँझवाना नीर जेवुं[8]।
तेने[9] तुच्छ करो फरीअरे; मोहन प्यारा।।
संसारीनुं सुख काचुं, परणी ने रंडावुं पाछुं।
तेने घेर शिद[10] जइये रे; मोहन प्यारा।।
परणूं तो प्रीतम प्यारो, अखंड सौभाग्य मारो[11]।
रांडवानो भे टाल्यो रे[12]; मोहन प्यारा।।
मीराँबाई बलिहारी, आशा मने एक तारी[13]।
हवे हुँ तो[14] बड्भागी रे, मोहन प्यारा।।

7. "मीराँ बाईनों सम्बन्ध जन्मादि कारण थी मारवाडी, विवाह कारण थी मेवाडी, वृन्दावन निवास कारण द्वारा व्रज भाषा साथे, तथा द्वारका माँ स्थिति निमित्त गुजराती भाषा जोड़े थयो हतो। तेथी चारे भाषाओोमां तेमज कोई-कोई पदमा चे चारेनूं मिश्रण जोवामा आवे छे। तेमा मारवाडी भाषा, गुजराती तथा हिन्दी ना एकजातीय मिश्रण जेवी छे। तेथी तेनी कविता गुजराती तथा हिन्दी ऐम मात्र बेज विभाग भाषा मूलक सुखे थइ शके।"

–रा.रा. तनसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी 'वृहत् काव्य दोहन'।

8. Meera was not a born Gujrati and she must have acquired the knowledge of Gujrati after she came to Dwarka –K.M. ZAVERI)

1. मुँह की; 2. माया लगी, प्रेम हो गया; 3. देखा; 4, तेरा; 5. हुआ; 6. रहा; 7. ऐसा; 5. मृगतृष्णा के जैसा; 9. उसे; 10. क्यों; 11. मेरा; 12. विधवा होने का भय टाल दिया; 13. तेरी; 14. में तो।

[हे मोहन प्यारे! मुझे तेरे मुख की माया लगी है। जब से मैंने तेरा मुँह देखा है, यह संसार मुझे खारा लगता है, मेरा मन सबसे न्यारा हो गया है। संसार का सुख मृगतृष्णा के समान है, इसे तुच्छ समझकर हम विचरें। संसारी का सुख कच्चा है, परणवे पर फिर रंडापा मौजूद है! फिर ऐसे घर हम जायें ही क्यों? परणुं तो मैं केवल प्रीतम प्यारे को, वही मेरा अखंड सौभाग्य हैं उसने रंडापे का भय टाल दिया है। मीराँ कहती है, हे मोहन प्यारे! मैं तुझ पर बलिहारी हूँ, मुझे केवल तेरी आशा है। अब मैं निश्चय ही बड़भागी हूँ।]

(2)

विरह

कानुडे न जाणी मारी पीर; बाई हूँ[1] तो बाळ कुंवारी[2] रे।। कानुडे।।

जलरे जमुनानां अमे[3] पाणीडां गया तां[4] वाला[5] कानुडे उडाड्यां[6] आछा[7] नीर; उड्यां फर रर रर रर रे ।।कानुडे।।

वृंदारे वनमां वा[7] ल[8] रास रच्यो छे, सोळ सें गोपीनां ताण्यां[9] चीर; फाट्यां चर रर ररर रे ।।कानुडे।।

हुं वरणागी[10] का' ना तमारा[11] नामनी रे, कानुडे मार्याछे अमने[12] तीर; वाग्यां[13] अर रररररर रे ।।कानुडे।।

बाई मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, कानुडे बाळीने फेंकी[14] ऊँचे गीर[15]; राख उडे फर रर रर रर रे ।।कानुडे।।

[श्री कृष्ण ने मेरी पीड़ा नहीं जानी। हे सखी, मैं तो बाल कुमारी हूँ। हम जमुना का जल भरने गई थीं। प्यारे श्री कृष्ण ने हम पर थोड़ा पानी छाँटा। पानी फर फर करके उड़ा। वृदावन में प्यारे श्री कृष्ण ने रास रचा, सोलह सौ गोपियों के चीर खींचे। चीर चर चर करके फटे। श्री कृष्ण, मैं तो तुम्हारे नाम के पीछे दीवानी हो गई हूँ। तुमने हमारे तीर मारे हैं। वे तीर पर रर करके हमारे लगे हैं। मीरा के प्रभु गिरधर नागर हैं। उन्होंने जलाकर राख पर्वत पर फेंक दी है। राख फर फर करके उड़ती है।]

(1. मैं; 2. बाल कुआँरी; 3. हम; 4. गये थे; 5. प्रिय; 6. उड़ाया; 7. फुहार की तरह का; 8. प्रिय ने; 9. खींचे; 10. मुग्ध हो गई; 11. तुम्हारे; 12. हमें; 13. लगे; 14. जलाकर फेंकी; 15. गिरि, पर्वत।)

(3)

मिलन की आकांक्षा

माछीडा[1] होडी[2] हंळकार[3] मारे[4] जावुं प्रभु मळवाने।।टेक।।

प्रभु मळवाने वा' ला हरि मळवाने। माछीडा होडो.।।

तारी होडली ने हीरले जडावुँ, फरथी मुकावुं[5] घूघर माळ[6]।

सोनैया आपुं[7] रुपैया आपुं, आपुं हैया केरो हार।।मारे जावें।।

आणी[8] तीरे गंगा पेली[9] तीरे जमुना, वचमां[10] वसे नंदलाल।

कालिंदीने तीरे धेनु चरावे वा' लो बनी गोपाल।।मारे जावुं।।

वृंदावनी कुंजगलीमाँ गोपी संग रास रमनार[11]।

बाई मीराँ कहे गिरधर नागर कृष्ण जी उतारो पेले पार।।मारे जाबुं।।

[हे मांझी, तू अपनी नाव ले चल। मुझे प्रभु से मिलने जाना है। प्रभु से, मेरे प्यारे हरि से मिलने जाना है। तेरी नाव को मैं हीरों से जड़ाऊँगी, चारों ओर घुँघरुओं की माला लगाऊँगी। मैं तुझे सोना दूँगी, रुपया दूँगी, यहाँ तक कि आवश्यकता पढ़ने पर हृदय का हार भी दे डालूँगी। इस तरफ गंगा है, उस तरफ यमुना है, बीच में नंदलाल बसते हैं। कालिंदी के तट पर प्यारा नंदलाल ग्वाला बनकर

(1. मांझी; 2. नाव; 3. हाँक; 4. मुझे; 5. लगाऊँ; 6. घुँघरुओं की ममाला; 7 दूँ; 8. इस; 9. उस; 10. बीच में; 11. खेलने वाला।)

धेनु चराता है। वह वृंदावन की कुंजगलियों में गोपियों के साथ क्रीड़ा करता है। मीरा बाई कहती है है गिरधर नागर, हे श्री कृष्ण, मुझे उस पार उतारिये।]

(4)

रहस्य दर्शन

ऊँचा ऊँचा आभमां[1] ने ऊँचा ऊँचा डूंगरानी[2]
ऊँडीरे गुफामां[3] मारो[4] दीवडो बळ रे[5]; दीवडो–
लाख लाख चंदा चळके[6] कोटि कोटि भानु रे
दीवडा अगाडी मारा झांखा[7] पढेरे; झांखा पडे–
भरमर भरमर बरसे मोतीडांनो[8] मेहूलोरे
सूरता[9] अमारी अ तो भीलवा[10] पडेरे; झीलवा–
बाई मीरा कहे प्रभु गिरधर ना गुण
सतगुरु दीधो मारो दीवडो बळे रे; दीवडो–

[ऊँचे-ऊँचे आसमान में और ऊँचे-ऊँचे पर्वत की गहरी गुफा में मेरा दीपक जल रहा है। लाख-लाख चन्द्रमा और कोटि-कोटि भानू चमक रहे हैं; पर वे सब मेरे दीपक के सामने फीके मालूम होते है। झरमर-झरमर मोतियों का मेह बरसता है। हमारी लगन उस मेह को झेलती है। मीराँबाई गिरधर के गुण गाती है। हे सतगुरु, आपका दिया मेरा दीपक जल रहा है।]

1. आकाश में; 2. डूंगर की; 3. गुफा में; 4. मेरा; 5. जले; 6. चमकता है; 7. फीका पड़ना; 8. मोतियों का; 9. लगन; 10. झेलना 11. दिया हुआ।

(5)

गरबी

बोल मा[1] बोल मा बोल मा रे, राधा कृष्ण बिना बीजु[2] बोल मा।।टेक।।

साकर[3] सेरडीनो[4] स्वाद तजी ने, कडवो लींबडो[5] घोळ मा रे; राधा.

चांदा सूरज नुँ तेज तजी ने, आगिया[6] संगा थे प्रीत जोड मारे; राधा.

हीरा माणेक झवेर तजी ने, कथीर[7] संगा थे मणि तोल मा रे, राधा.

मीराँ कहे प्रभु गिरधर नागर, शरीर आप्युं सम तोलमां मा रे; राधा.

[राधा कृष्ण के सिवा और कुछ मत बोल। मिस्री और गन्ने के स्वाद को छोड़कर कड़ुआ नीम मत घोल। चांद और सूर्य के प्रकाश को छोड़कर जुगनू के प्रकाश के साथ प्रेम न कर। हीरे 'माणिक और जवाहरातों को छोड़कर कथीर के सारे मणियों को मत तौल। मीरा कहती है' हे गिरधर नागर! मैंने अपना शरीर सम तौल में अर्पित किया है—घाटे का सौदा नहीं किया है!]

□

1. मत; 2. दूसरा; 3. मिस्री; 4. गन्ना; 5. नीम; ६. जुगनू; 7. रांगा।

संपत्सु महतां चित्तं, भवत्युत्पल-कोमलम्।
आपत्सु च महाशैल-शिला-संघातकर्कशम्।।

वैभव में बड़े लोगों का हृदय दूसरों के दु:ख से कमल जैसा कोमल होता है। उसका हृदय झट पिघल जाता है। लेकिन जब खुद उन पर विपत्ति आती है, तब वे अपने प्रति पर्वतशिला जैसे कठोर हो जाते हैं; दु:ख झेलते हुए डिगते नहीं और शील नहीं छोड़ते।

—काका कालेलकर

POSTED AT LPC DELHI RMS, DELHI-06 डाक रजि. संख्या डी.एल.(सी.)-01/1242/2024-26
डाक से भेजने की तारीख 5-6 जुलाई, 2026 Postal R.No.DL(C)-01/1242/2024-26
प्रकाशन की तारीख 3 जुलाई, 2026 मंगल प्रभात मासिक आर.एन.आई.-813/57

श्रद्धांजलि

(विजय कुमार हाण्डा)

सन्निधि के वरिष्ठ कार्यकर्ता श्री विजय कुमार हाण्डा (02-10-1942 : 13-06-2026) का निधन हो गया। हाण्डा जी एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती बीना माथुर हाण्डा दोनों ने मिलकर संस्था के खादी एवं चर्खा प्रशिक्षण केन्द्र को विगत चार दशकों तक समर्पणपूर्वक संचालित किया। गांधी समाधि पर 30 जनवरी और 2 अक्तूबर को अखण्ड चर्खा कताई एवं अमेरिकन स्कूल जैसी अनेक शिक्षण संस्थाओं में चर्खा प्रशिक्षण नियमित रूप से करते रहे। गांधीविचार-परिवार विशेषत: सन्निधि-परिवार के लिए यह अपूरणीय क्षति है। सन्निधि-परिवार की ओर से सादर श्रद्धांजलि।

❖❖❖

(प्रो. शिचिरो सोमा)

जापान में गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा के प्रखर कार्यकर्ता एवं हिन्दी के प्रोफेसर श्री शिचिरो सोमा का 14-06-2026 को परलोकगमन हो गया। पिछले पाँच दशकों से सन्निधि की प्रवृत्तियों में उनका सहयोग रहा। काकासाहेब, अबोध गुरुजी एवं डॉ. नरेश मंत्री के निकट सम्पर्क में रहें। आचार्य रसूल अहमद 'अबोध' के मंगल प्रभात में छपे लेखों को सम्पादित कर उन्होंने दो पुस्तकें– 'उर्दू साहित्य' और 'हिन्दी साहित्य के विविध पक्ष' अपने खर्च से सभा द्वारा प्रकाशित की। जापानी धर्म की कई पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद भी उन्होंने मेरे सहयोग से किया।

सन्निधि-परिवार की ओर से सप्रेम श्रद्धांजलि।

–रमेश भारद्वाज
(सम्पादक)

प्रकाशक एवं मुद्रक **कुसुम शाह** द्वारा **गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा**, 1, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, सन्निधि, राजघाट, नई दिल्ली-2 के लिए प्रकाशित तथा **आदर्श प्रेस**, 2023, कूचा चेलान, दरिया गंज, नई दिल्ली-2 से मुद्रित। *संपादक* : **प्रो. रमेश भारद्वाज**